

आचारांग (प्रथम श्रुत-स्कंध) के प्रामाणिक संस्करणों के कतिपय पाठों की समीक्षा एवं भाषाकीय दृष्टि से उन्हें सुधारने की अनिवार्यता

डॉ० के० आर० चन्द्र

आचारांग जैन अद्वैतागाधी आगम साहित्य का आद्य ग्रंथ है और प्राकृत भाषा की यह प्राचीनतम कृति माना जाता है। परंतु ग्रंथ के सूक्ष्म अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी भाषा का स्वरूप सर्वत्र प्राचीनतम नहीं है। इसके अतिरिक्त श्री शुब्रिंग महोदय, पूज्य श्री सागरानन्दजी, पू० श्री नथमल जी और पूज्य श्री जम्बूविजयजी के संस्करणों में कितने ही पाठ एक समान नहीं हैं। उनमें ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी जो भेद मिलते हैं वे विचारणीय हैं।^१ श्री शुब्रिंग के संस्करण में मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप लगभग अट्टावन प्रतिशत (५८%) है जबकि पूज्य श्री जम्बू विजयजी के संस्करण में लगभग चौबीस प्रतिशत (२४%) है।^२ इस भेद के कारण प्रश्न यह उठता है कि किस संस्करण को मूल पाठ के अधिक निकट माना जाय ?

आगे दी गयी तालिका से स्पष्ट है कि अलग-अलग संस्करणों में भाषा (वर्ण-विकार एवं शब्द-रूप) संबंधी कितना अन्तर है। यदि इनकी आगमेतर प्राचीन ग्रंथों की प्राकृत भाषा के साथ तुलना की जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचारांग के संस्करणों में मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप का जो प्रतिशत मिलता है वह उचित नहीं है। वसुदेवहिंडी में यह लोप छप्पन प्रतिशत (५६%) है और पउमचरिय में बासठ प्रतिशत (६२%)। इन दोनों ग्रंथों की रचना परवर्ती है और आचारांग की भाषा से इन दोनों की भाषा अर्वाचीन होनी चाहिए और ऐसा है भी। यह बात इनमें उपलब्ध रूपों^३ से भी सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ सप्तमी एकवचन की विभक्ति—‘अंसि,’ हेत्वर्थक प्रत्यय—‘इत्तए,’ संबंधक भूत क्रदन्त के प्रत्यय—‘टटु, त्तु और च्चा’ आचारांग में तो मिलते हैं परंतु ये प्राचीन प्रत्यय वसुदेवहिंडी और पउमचरिय में नहीं मिलते हैं। स०ए० व० की विभक्ति—‘म्मि’ वसुदेवहिंडी में दो प्रतिशत (२%) पउमचरिय में बीस प्रतिशत (२०%) उपलब्ध है जबकि यह अर्वाचीन विभक्ति आचारांग (प्र० श्र० स्कंध) में उपलब्ध नहीं है। सं०

- अंत में दी गयी शब्दों की तुलनात्मक तालिका देखिए।
- आचारांग प्रथम श्रुत-स्कंध के दोनों संस्करणों के प्रथम अध्ययन के विश्लेषण के अनुसार इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है।
- देखिए मेरा लेख :—

Comparative Study of the Language of Paumacariyam and Vasudevahimdi : Proceeding of the AIDC, Jaipur Session, 1982 : Poona, 1984.

जिसमें वसुदेवहिंडी पृ० ३३ से ३४ और पउमचरिय, उद्देशक ६० से ६५ पर आधारित भाषाकीय विश्लेषण किया गया है।

भू० कू० के प्रत्यय ‘ऊण’ और ‘उं’ वसुदेवहिंडी में क्रमशः छिह्न्तर और तीन प्रतिशत (७६%, ३%) तथा पउमचरिय में क्रमशः बहत्तर और बीस प्रतिशत (७२%, २०%) मिलते हैं जबकि ये अर्वाचीन प्रत्यय आचारांग (प्र० श्र० स्कंध) में नहीं मिलते। वसुदेवहिंडी और पउमचरिय की प्राकृत भाषा का स्वरूप अर्वाचीन है अतः उनमें मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप छप्पन से बासठ प्रतिशत (५६% से ६२%) तक मिलता है जब कि आचारांग की भाषा का स्वरूप प्राचीन है और शुब्रिंग महोदय के संस्करण में जो लोप अट्ठावन प्रतिशत (५८%) मिलता है वह विश्वसनीय कैसे माना जाय? पू० जम्बूविजयजी के संस्करण में यह लोप चौबीस प्रतिशत ही (२४%) है। उसे हम विश्वसनीयता के निकट मान सकते हैं।

जैन आगम साहित्य के अन्य सूत्र ग्रंथों की भाषा के विश्लेषण से भी ऐसा प्रतीत होता है कि आचारांग के शुब्रिंग के संस्करण में मध्यवर्ती व्यंजनों का अट्ठावन प्रतिशत लोप (५८%) उपयुक्त नहीं है। यह मध्यवर्ती व्यंजन-लोप पज्जोसवणा (कल्पसूत्र, सूत्र, २३२ से २९१) में चौवालीस प्रतिशत (४४%) व्यवहार सूत्र (१,२,७,४,१०) में पैतालीस प्रतिशत (४५%), बृहत्कल्प-सूत्र (उद्द० १ से ६) में चौवन प्रतिशत (५४%) और निशीथसूत्र (उद्द० १ से ५) में छप्पन प्रतिशत (५६%) है। इन सब सूत्रों की प्राकृत भाषा भी प्राचीन है जैसा कि निम्न संबंधक भूत (पूर्वकालिक) एवं हेत्वर्थ कृदन्तों से मालूम होता है—

| ग्रन्थ | संबंधक भूत कृदन्त-प्रतिशत | | | | | | हेत्वर्थ-प्रतिशत | |
|--------------|---------------------------|--------|----------|----|-------|----------|------------------|----|
| | प्रत्यय | इत्ता, | इत्ताणं, | इय | च्चा, | त्तु(टु) | त्तए | उं |
| व्यवहारसूत्र | ४० | १४ | ३३ | ४ | ९ | ९६ | ४ | |
| निशीथसूत्र | ४४ | — | ४५ | ६ | ५ | — | — | |
| बृ. क. सूत्र | ७८ | — | १२ | ६ | ४ | ९७ | ३ | |
| पज्जोसवणा | ३७ | — | ३७ | १५ | ९ | ९६ | ४ | |

इन सभी सूत्र ग्रंथों में स०भू०कू० के प्रत्यय-ऊण का प्रयोग नहीं मिलता है और स० भू० कू० एवं हेत्वर्थक प्रत्ययों का (ऊण एवं उं) का एक दूसरे के लिए प्रयोग भी नहीं मिलता है। ऐसे प्रयोग प्रायः पश्चात्कालीन हैं।

दो और प्राचीन आगम-सूत्र-ग्रंथों की भाषा का विश्लेषण भी यही साबित करता है। षट्खंडागम (सूत्र नं १ से १७७) में इकतालीस प्रतिशत (४१%) लोप मिलता है और पण्णवणा सूत्र (१.१ से ७४, २३९ से १४७) में बावन प्रतिशत (५२%) प्राप्त होता है। षट्खंडागम में स० ए० व० की विभक्ति ‘अंसि’ के बदले में ‘म्मि’ और ‘म्हि’ ११% और २०% के अनुपात में मिलती है। पण्णवणा में तो ‘ए’ विभक्ति मिली है, ‘अंसि’, ‘म्हि’ या ‘म्मि’ देखने को नहीं मिली।

१. इन दोनों ग्रन्थों का भाषाकीय अध्ययन उपरोक्त अंशों तक ही सीमित है।

पुनर्हच एक ही ग्रंथ की विभिन्न काल की प्रतों में उपलब्ध पाठों में मध्यवर्ती ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी कितना अन्तर आ जाता है उसका एक ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने विशेषावश्यकभाष्य का है। इस ग्रंथ के ला० द० संस्करण^१ में यदि मध्यवर्ती 'त' की स्थिति को 'त' श्रुति मानकर इस स्थान पर 'त' का भी लोप माना जाय तो सभी मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप इकतीस प्रतिशत (३१%) ठहरता है। यह लोप आचारांग के शुब्रिंग महोदय के संस्करण से बहुत कम है यह मुद्दा ध्यान में लेने योग्य है। विशेषावश्यकभाष्य में लोप की स्थिति का यदि अन्य तरह से विश्लेषण किया जाय तो उसका प्रतिशत बदल जाता है। यदि मध्यवर्ती 'त' को सर्वथा छोड़ दिया जाय तो अन्य व्यंजनों का लोप बारह प्रतिशत (१२%) ठहरता है और यदि मध्यवर्ती 'त' की स्थिति को 'त' श्रुति न मानकर मूल 'त' ही माना जाय तो यह लोप दस प्रतिशत (१०%) ही ठहरता है। इसी ग्रंथ के ला० द० के अलावा जो अन्य संस्करण उपलब्ध हैं उनमें मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप अड़तालीस प्रतिशत (४८%) मिलता है। ला० द० संस्करण में जिस प्रति का उपयोग किया गया है वह दसवीं शताब्दी की है जो मूल ग्रंथ के रचनाकाल से लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों बाद की है जबकि अन्य संस्करणों की प्रतियाँ अनेक शताब्दियों के बाद की हैं। इसी उदाहरण से स्पष्ट है कि एक ही ग्रंथ की विभिन्न कालीन प्रतियों में ध्वनि-सम्बन्धी परिवर्तन कितना बढ़ गया है। इस दृष्टि से यदि आचारांग के प्रथम श्रुत-स्कंध की रचना या संकलन का काल कम से कम आगमों की प्रथम वाचना का समय यानि ई० स० पूर्व तीसरी शताब्दी से पहले का भी माना जाय तो उसके और उसकी प्राचीनतम प्रति के बीच में (जो बारहवीं शताब्दी की है) पन्द्रह सौ वर्षों का अन्तर पड़ता है। समय के इतने लम्बे अन्तर के कारण मूल पाठों के बदल जाने की बहुत अधिक संभावना रहती है। इस तथ्य के विषय में किसी प्रकार की शंका करने का अवकाश ही नहीं रहता जैसा कि वि० आ० भाष्य के उदाहरणों से स्पष्ट है।

विभिन्न आगम-सूत्र-ग्रन्थों एवं अन्य रचनाओं में प्राकृत भाषा के स्वरूप को देखते हुए इतना तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि पू० पुण्यविजयजी द्वारा संशोधित और पू० जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित आचारांग का संस्करण प्राचीनता (मूल भाषा) के अधिक निकट है जबकि शुब्रिंग महोदय के संस्करण में भाषा की अर्वाचीनता है। यह सब कुछ होते हुए भी पू० जम्बू-विजयजी के संस्करण^२ में भी अनेक अर्वाचीन पाठ स्वीकृत किये गये हैं जो उपलब्ध प्रतों के आधार पर स्वतः स्पष्ट हैं। पू० सागरानन्दजी (आगमोदय समिति) के संस्करण में पाठान्तर

१. ग्रन्थ की प्रथम सौ गाथाओं (ला० द० संस्करण) के जो सभी पाठान्तर दिये गये हैं उनके अनुसार इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है। देखिए मेरा लेख, पू० ६५ से ७४, प्राचीन आगम ग्रन्थों का संपादन, लाला हरजस राय स्मृति ग्रन्थ, १९८७, पा० वि० शोध संस्थान, वाराणसी-५.
२. पू० मुनि श्री का जितना आभार माना जाय उतना ही कम है क्योंकि अब तक के उपलब्ध सभी संस्करणों में यही एक ऐसा संस्करण है जिसमें अनेक प्रतियों का उपयोग किया गया है और अत्यंत परिश्रम के साथ इस संस्करण का संपादन किया गया है। उनके ही इस परिश्रम के कारण प्रस्तुत अध्ययन के लिए इस प्रकार की दृष्टि मिल सकी और यह संशोधनात्मक निबंध तैयार किया जा सका।

नहीं दिये गये हैं अतः उस पर कोई चर्चा नहीं की जा सकती। पू० नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञजी) के संस्करण के बारे में कहा जा सकता है कि उसके सम्पादन में जिन प्रतों का आधार लिया गया है उनमें ही कुछ प्राचीन रूप उपलब्ध हैं परंतु उनको स्वीकार नहीं किया गया है। उदाहरणार्थः—

| स्वीकृत रूप | प्राचीनतम् व प्रत से अस्वीकृत रूप | स्वीकृत रूप | अर्वाचीन प्रतों से अस्वीकृत रूप |
|------------------|-----------------------------------|---------------|---------------------------------|
| चुओ १-१-२ | चुते | वहंति १-६-१४० | वधंति (क) |
| पडिसंवेदेइ १-१-B | पडिसंवेदयइ | पहू १-७-१४५ | पभू (क) |

इसी प्रकार शुर्णिंग महोदय के संस्करण में भी कुछ पाठों को उनके द्वारा उपयोगमें ली गयी प्रतों के आधार पर ही बदलने की आवश्यकता प्रतीत होती है। उदाहरणार्थः—

| स्वीकृत पाठ | प्रतों में उपलब्ध (सी० चूर्णि) |
|-----------------------|--------------------------------|
| पडिसंवेएइ (पू० १-१८) | पडिसंवेदयइ (जी०) |
| अखेयन्ने (पू० ९-१५) | अखेत्तन्ने (जी०, सी०) |
| जीवा अणेगा (पू० ३-१८) | जीवा अणेगे (ए०) |
| अनिच्चयं (पू० ४-३०) | अनितियं (सी०) |

इसी तरह पू० जम्बूविजयजी के संस्करण में भी कतिपय पाठ बदलने की आवश्यकता प्रतीत होती है। उदाहरणार्थः—

कोष्ठक में सूत्र-संख्या दी गयी है—

| स्वीकृत | अस्वीकृत | स्वीकृत | अस्वीकृत |
|--|----------|-------------------|--------------|
| उववाइए (१, २) | उववादिए | लोगं (२-२) | लोकं |
| एगे (१२) | एके | अहं (४१) | अधं |
| आयाणीयं (१४,२६,४४,५२) | आताणीयं | अट्ठिमिज्जाए (५२) | अट्ठिमिज्जाए |
| समुट्ठाए (१४,२५,३६,४० ४४,५२,५९,७०,७५) | समुट्ठाय | अण्णयरम्भि (९०) | अण्णयरंसि |
| | | अणुपुञ्चोए (२३०) | अणुपुञ्चीय |

पू० जम्बूविजयजी ने स्वयं अपने संस्करण की भूमिका में लिखा है^१—“सुगमता के लिए मध्यवर्ती ध के बदले में ‘ह’ पाठ स्वीकार किया गया है।” वास्तव में ‘थ’ का ‘ध’ में परिवर्तन थ=‘ह’ (यथा, तथा के अघोष थ का घोष ध) से प्राचीन है परंतु उन्होंने अर्वाचीन ‘ह’ को अपनाया है जो ‘थ’ का ‘ध’ होकर फिर बाद में ‘ह’ हुआ है। उन्होंने ऐसे सब पाठ भी नहीं दिये हैं। यदि ऐसे सब पाठ दिये होते तो नया परिमार्जित संस्करण तैयार करने में बहुत सहायता मिलती।

इस अध्ययन के दरम्यान आचारांग के विविध संस्करणों में तथा मूलग्रंथ, उसकी चूर्णी और वृत्ति की विविध प्रतियों में उपलब्ध हो रहे विभिन्न पाठों का विश्लेषण^२ इस प्रकार किया जा सकता है :—

I उपलब्ध हस्तप्रतों के विषय में :—

१. मूल ग्रंथकी प्रतों में अशुद्ध पाठ भी प्राप्त.
२. मूल ग्रंथकी प्रतों में अर्वाचीन रूप भी प्राप्त.
३. प्राचीन प्रतों में अर्वाचीन रूप भी प्राप्त.
४. रूपों की सर्वत्र एक-रूपता अप्राप्त.
५. चूर्ण की विभिन्न प्रतों में अलग-अलग शब्द-रूप प्राप्त.
६. चूर्ण में अशुद्ध रूप भी प्राप्त.
७. चूर्ण में अर्वाचीन रूप भी प्राप्त.
८. शीलांकाचार्य की वृत्ति में भी रूपों की एक-रूपता नहीं.
९. शीलांकाचार्य की वृत्ति में अर्वाचीन रूप भी प्राप्त.

II उपलब्ध मुद्रित संस्करणों के विषय में :—

१. अ-एक ही संस्करण में एक ही शब्द का कभी प्राचीन तो कभी अर्वाचीन रूप स्वीकृत।
ब-विविध संस्करणों में अलग-अलग शब्दरूप की प्राप्ति।
२. अ-चूर्ण में उपलब्ध प्राचीन रूप अस्वीकृत।
ब-मात्र चूर्ण का प्राचीन रूप स्वीकृत।
३. अ-प्राचीनतम प्रत में उपलब्ध प्राचीन रूप अस्वीकृत।
ब-प्राचीनतम प्रत एवं चूर्ण में उपलब्ध प्राचीन रूप अस्वीकृत।
स-प्राचीनतम प्रत एवं चूर्ण में उपलब्ध अर्वाचीन रूप स्वीकृत।
द-प्राचीनतम प्रत एवं चूर्ण में उपलब्ध अर्वाचीन रूप अस्वीकृत।
४. अ-अर्वाचीन प्रत में उपलब्ध प्राचीन रूप स्वीकृत।
ब-अर्वाचीन प्रत में उपलब्ध प्राचीन रूप अस्वीकृत।
स-अर्वाचीन प्रत में उपलब्ध अर्वाचीन रूप स्वीकृत।
द-चूर्ण और अर्वाचीन प्रत में उपलब्ध प्राचीन रूप अस्वीकृत।

१. देखिए—आचारांगसुत्तं १९७७ मुनि जम्बूविजय की प्रस्तावना, पृ० ४३-४४.

२. देखिए—‘आचारांग के प्रथम श्रुत स्कंध में स्वीकृत कुछ पाठों की समीक्षा’, विद्या, गुज, युनि, जिल्ड, २५, नं० १-२, अगस्त, १९८२.

५. अ-कागज की प्रत में उपलब्ध प्राचीन रूप स्वीकृत ।

ब-कागज की प्रत में उपलब्ध प्राचीन रूप अस्वीकृत ।

III संपादकों द्वारा की गयी भूल :—अपने से पूर्व के संस्करणों में प्राप्त हो रहे प्राचीन या उपयुक्त रूप बाद के संस्करणों में कभी-कभी नहीं लिये गये हैं ।

IV उपलब्ध पाठान्तरों के आधारों से किसी शब्द-रूप की प्राचीनता पुनः स्थापित करने के विषय में :—

समान संदर्भ में विविध प्रतों या संस्करणों में किसी शब्द या रूप के विविध प्रकार से उपलब्ध पाठों के आधार पर उनके अंशों का आधार लेकर उस शब्द या रूप की प्राचीनता पुनः स्थापित की जा सकती हो तो ऐसा क्यों न किया जाय अथवा ऐसा करने में क्या दोष है ? उदाहरणार्थ :—

(अ) स्वीकृत पाठ :—पञ्चहिते जं० १.२.४.८४, पञ्चहिए शुं० २.९.२६, आ० पृ० १२७, अ, जौ० १.२.४.९०, पाठान्तर-पञ्चधिए, जंबू, की श्वे० प्रत (आचारांग) ।

इस शब्द के प्राचीन रूप की पुनर्स्थापिना ‘पञ्चधिते’ (=पञ्चधितः) में होगी ।

(ब) सहसमुतिया (सह+समुति+या विभक्ति) के उपलब्ध विविध पाठ और पाठान्तर :—सहसमुतियाए, सहसमुदियाए, सहसमुह्याए; सहसमदियाते, सहसम्मियाए; सहसमुइए, सहसम्मइए, सहस्समुदियाए और सहसमदियाए । इन पाठान्तरों से स्पष्ट है कि शब्दका मूल रूप स्थानान्तर एवं समयान्तर के साथ किस प्रकार परिवर्तित होता गया । उसका विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :—

संस्कृत शब्द :—मत, मति, सम्मति । इन्हीं के प्राकृत-पालि रूप ‘मुत’, ‘मुति’ (अशोक के शिलालेख) ‘सम्मुति’ और तृ० ए० व० की विभक्ति के साथ ‘सम्मुतिया’ (पालि साहित्य) । अतः ‘सहसमुतिया’ ही शुद्ध एवं प्राचीन रूप है । लेहियों की असावधानी के कारण उसने अनेक रूप धारणा किये जो पाठान्तरों से स्पष्ट हो रहा है ।

प्राचीन रूप तो ‘सम्मुतिया’ ही था जो पालि साहित्य, अशोक के शिलालेखों और अर्धमागधी आगम साहित्य में उपलब्ध हो रहे साक्षयों से ही प्रमाणित हो रहा है । परंतु प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से यह प्रचलित रूप स्वीकृत नहीं हो सकता था अतः उसमें ‘ए’ विभक्ति जोड़कर ‘सम्मुतियाए’ बनाया गया जबकि मूल शब्द ‘सम्मति’ के लिए ‘सम्मुतिया’ जैसा कोई शब्द प्रचलित ही नहीं हुआ । यह तो पालि की ‘या’ और प्राकृत की ‘ए’ दो विभक्तिवाला रूप बन गया और वही आज के संस्करणों में प्रचलित है जिसे सुधारकर उस जगह संशोधित पाठ ‘सहसम्मुतिया’ रखा जाना चाहिए जो परंपरा-प्राप्त प्राचीन रूप है और येन केन प्रकारेण आचारांग के सिवाय अन्य प्राचीन जैन ग्रन्थों में भी सुरक्षित* रह सका है ।

* आचारांग के प्रथम श्रुत-स्कंद्ध में उपलब्ध ‘सहसम्मुदियाए’ पाठ पर कुछ चर्चा, All India Oriental Conference, Calcutta Oct. 24-26, 1986 में प्राकृत एवं जैनिज्म सेक्षण में भेजा गया मेरा संशोधन पत्र ।

इस विश्लेषण से प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में ध्यान में लेने योग्य जो तथ्य मुझे उपलब्ध होते हैं उन्हें निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है :—

१. हरेक ग्रन्थ के या आवश्यकतानुसार उसके हरेक अध्ययन के पाठों का अलग-अलग अध्ययन किया जाना चाहिए ।
 २. ग्रन्थ के रचना-काल के समय की भाषा के स्वरूप को ध्यान में रखा जाना चाहिए ।
 ३. टीका ग्रन्थों या अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पाठों पर भी ध्यान देना चाहिए ।
 ४. अधिक से अधिक प्रतों में उपलब्ध समान पाठ ही स्वीकार्य हों, सर्वत्र ऐसा नहीं माना जाना चाहिए ।
 ५. प्राचीनतम प्रत प्रामाणिक हो ऐसा नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि अर्वाचीन प्रत का आधार भी तो कोई प्राचीन प्रत ही रहा होगा ।
 ६. लेहियों या आचार्यों द्वारा प्रचलित भाषा के प्रभाव, सुगमता, सरलता या लिपिभ्रम के कारण मूल पाठ बदल जाने की संभावना को ध्यान में रखना चाहिए ।
 ७. प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने काल की दृष्टि से प्रत्येक प्राकृत भाषा में विकसित रूपों के तुलनात्मक व्याकरण नहीं लिखे हैं और साहित्य में उपलब्ध सभी रूपों का समावेश भी नहीं हुआ है, अतः इस वैज्ञानिक दृष्टि को भी ध्यान में रखना चाहिए ।
- उदाहरणार्थ :—

निम्न शब्द-रूपों पर ध्यान दीजिए ।

- (i) शब्द :—नितिय-निच्च (नित्य),
दविय-दव्व (द्रव्य),
अगणि-अग्नि (अग्नि),
पिच्छ-पिछ (पृच्छ)

- (ii) प्रत्यय :—नपुं., द्वि. ब. व. आणि-आइ; तृ. से स. ए. व. की विभक्ति (स्त्री)-य, ए,- तृ. ए. व. एण-एण; तृ. ब. व. हि-हि; स. ए. व. स्सि, अंसि, म्हि म्मि. स. ब. व. सु-सुं, वर्तमान कृदन्त मान,-आण; सं-भू, कृ, ऊण, ऊं इत्यादि । [इन सब का काल की दृष्टि से किस प्रकार विकास हुआ यह हमें वैयाकरणों से जानने को नहीं मिलता है ।]

इस प्रकार का यह विश्लेषणात्मक अध्ययन संभव हो सका इसके लिए मैं सभी पूर्व के सम्पादकों का आभार मानता हूँ जिन्होंने परिश्रमपूर्वक सामग्री जुटाकर आचारांग का सम्पादन किया है । यदि यह बहुविध सामग्री उपलब्ध नहीं होती तो ऐसा अध्ययन ही संभव नहीं था अतः उन सभी सम्पादकों का आभार मानते हुए विनय के साथ कहना चाहिए कि हमारे इस निर्णय को भी अंतिम नहीं माना जाय । विद्वानों से अनुरोध है कि इस संबंध में जो भी आपत्तियाँ, शंकाएँ और प्रश्न उपस्थित हो रहे हों या इस पद्धति में यदि कोई त्रुटि हो तो उन पर अवश्य चर्चा की जाय, जिससे आचारांग का ही नहीं, अपितु अन्य आगम-ग्रन्थों का भी पुनः सम्पादन करने में एक नयी दिशा प्राप्त हो ।

तुलनात्मक तालिका

आचारांग के मात्र संस्करणों में कुछ शब्दों एवं रूपों के विभिन्न पाठ इस प्रकार मिलते हैं :—

प्रत्येक शब्द के बाद सूत्र-संख्या पूर्वज्ञानी के संस्करण की दी गयी है।
संस्करण :

| | | | |
|--------------------|----------------|----------------|--------------|
| पू. जम्बू विजयजी | शुर्णिंग महोदय | आगमोदय | पू. नथमलजी |
| १. इदाणी-३३ | इयाणि | इयाणि | इयाणि |
| २. जाती-मरण-७ | जाई-मरण | जाई-मरण | जाई-मरण |
| ३. उववाइए-१ | उववाइए | उववाइए | ओववाइए |
| ४. अधेदिसातो-१ | अहेदिसाओ | अहोदिसाओ | अहे वा दिसाओ |
| ५. वधेति, वहिति-५२ | हणन्ति, वहन्ति | हणन्ति, वहन्ति | वहन्ति |
| ६. चयोवचइयं-४५ | चयावचइयं | चओवचइयं | चयावचइयं |
| ७. पडिसंवेदयति-६ | पडिसंवेएइ | पडिसंवेदेइ | पडिसंवेदेइ |
| ८. लोगावादी-३ | लोगावाई | लोयावादी | लोगावाई |
| ९. अवियाणओ-४९ | अविजाणओ | अवियाणओ | अवियाणओ |
| १०. विजहित्ता-२० | वियहित्तु | वियहित्ता | विजहित्तु |
| ११. णातं भवति-१ | णायं भवइ | णायं भवइ | णातं भवति |
| १२. परितावेति-५० | परियावेति | परितावेति | परितावेति |
| १३. पमाएण-३३ | पमाएण | पमाएण | पमाएण |
| १४. सदा-३३ | सया | सया | सया |
| १५. सता-३३ | सया | सया | सया |
| १६. जतेहिं-३३ | जएहिं | जत्तेहिं | जतेहिं |
| १७. निरए-३ | नरए | णरए | णरए |
| १८. णियाग-१९ | नियाग | नियाय | णियाग |
| १९. णो सण्णा-१ | नो सन्ना | णो सण्णा | नो सण्णा |
| २०. पभू-५६ | पहू | पहू | पहू |
| २१. अहिताए-१३ | अहियाए | अहिआए | अहियाए |
| २२. परिणा-१३ | परिन्ना | परिणा | परिणा |
| २३. अणिच्चयं-४५ | अनिच्चयं | अणिच्चयं | अणिच्चयं |
| २४. चुते-१ | चुओ | चुए | चुओ |
| २५. समारंभमाणो-१२ | समारंभमाणे | समारंभेमाणा | समारंभेमाणे |
| २६. जीवा अणेगा-२६ | जीवा अणेगा | जीवा अणेगे | जीवा अणेगा |
| २७. समुट्टाए-१४ | समुट्टाए | समुट्टाय | समुट्टाए |
| २८. अणुपालिया-२० | अणुपालिया | अणुपालिज्जा | अणुपालिया |
| २९. कारावेस्सं-४ | कारावेस्सं | कारवेसुं | कारवेसुं |
| ३०. अकरिस्सं-४ | करिस्सं | अकरिस्सं | अकरिस्सं |
| ३१. अबोहीए-२४ | अबोहीए | अबोहीए | अबोहीए |

संकेत—अ = आगमोदमय समिति का संस्करण

जै = पू. नथमल जी का संस्करण

जं = पू. जंबूविजय जी का संस्करण

शु = शुब्रिंग महोदय का संस्करण

रीडर एवं अध्यक्ष, प्राकृत-पालि विभाग

भाषा साहित्य भवन,

ગुजરात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद-९

संदर्भ-ग्रन्थ—

1. आचारांग-सूत्र, शुब्रिंग, लीपजिंग, 1910 ।
2. आयारंगसुत्तं, मुनि जम्बूविजय, 1977 ।
3. अंगसुत्ताणि-1, आचार्य तुलसी, जैनविश्वभारती, लाडनूँ, सं० 2031 ।
4. श्रीमदाचारांगसूत्रम्, आगमोदय समिति, 1916 ।
5. निशीथसूत्र, धासीलालजी, राजकोट, 1969 ।
6. व्यवहारसूत्र, शुब्रिंग, अनु० दोशी जीवराज घेलाभाई, 1925 ।
7. बृहत्कल्पसूत्र, पू० धासीलालजी एवं कन्हैयालालजी, सं० 1969 ।
8. कल्पसूत्र, पू० पुण्यविजयजी, सं० 1952 ।
9. विशेषावश्यकभाष्यम्, प्रथमो भाग:—पं० दलसुखभाई मालवणिया, ला. द. 1966 ।
10. वसुदेवहिंडी, जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, 1930 ।
11. पउमचरियं, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, 1962 ।

